* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो,श्रम व्यर्थ सभी,केवल बंधनकर॥

वर्ष ८ | गौराब्द ४७६, मास—त्रिविक्रम २७, वार—गर्भोदशायी शुक्रवार, ३२ ज्येष्ठ, सम्वत् २०१८, १५ जून १९६२ | संख्या १

श्रीश्रीराधिकाष्टकम्

[श्रीमद्-रघुनाथदास-गोस्वामि-विरचितम्]

रसवलित-मृगाक्षी-मौलिमाणिक्य-लक्ष्मीः प्रमुदित-मुरवैरि-प्रेमवापी-मराली ।
व्रजवर-वृषभानोः पुण्य-गीर्वाणवल्ली स्नपयति निज-दास्ये राधिका मां कदा नु ॥१॥

स्फुरदरुण-दुकूल-द्योतितोद्यन्नितम्बस्थलमभि वरकाञ्ची-लास्यमुल्लासयन्ती ।
कुचकलस-विलास-स्फीत-मुक्तासर-श्रीः स्नपयति निज-दास्ये राधिका मां कदा नु ॥२॥

सरसिजवर-गर्भाखर्व-कान्तिः समुद्यत् तरुणिम-घनसाराश्लिष्ट-कैशोर-सीधुः ।
दर-विकशित-हास-स्यन्दि-बिम्बाधराग्रा स्नपयति निज-दास्ये राधिका मां कदा नु ॥३॥

अति-चटुलतरं नं काननान्तर्मिलन्तं व्रज-नृपति-कुमारं वीक्ष्य शंकाकुलाक्षी ।
मधुर-मृदुवचोभिः संस्तुता नेत्रभङ्ग्या स्नपयति निज-दास्ये राधिका मां कदा नु ॥४॥

व्रजकुल - महिलानां प्राणभूताखिलानां पशुपपति-गृहिण्याः कृष्णवत् प्रेमपात्रम् ।
सुललित-ललिताद्यैः स्नेह फुल्लान्तरात्मा स्नपयति निज-दास्ये राधिका मां कदा नु॥५॥

निरवधि सविशाखा शाखियूथ-प्रसूनैः स्रजमिह रचयन्ती वैजयन्ती वनान्ते ।
अघविजय-वरोरः प्रेयसी श्रेयसी सा स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ॥६॥
प्रकटित-निजवासं-स्निग्धवेणु-प्रणादैर्दुतगति हरिमारात् प्राप्य कुञ्जे स्मिताक्षी ।
श्रवणकुहर-कन्डूं तन्वती नम्र-वक्त्रा स्नपयति निज-दास्ये राधिका मां कदा नु ॥७॥
अमल-कमलराजिस्पर्शि- वात-प्रशीते निज सरसि निदाघे सायमुल्लासिनीयम् ।
परिजनगण-युक्ता क्रीडयन्ती वकारि स्नपयति निज-दास्ये राधिका मां कदा नु ॥८॥
पठति विमलचेता मृष्ट-राधाष्टकं यः परिहृत-निखिलाशा-सन्ततिः कातरः सन् ।
पशुपपति-कुमारः काममामोदितस्तं निज-जनगण-मध्ये राधिकायास्तनोति ॥९॥

अनुवाद—

जो सुरसिका मृगनयनी स्त्रियोंकी शिरोमणिके समान शोभा पारही हैं, जो मुरनामक शत्रुको मारने वाले परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्णके प्रेम-सरोवरकी हंसिनी हैं, एवं जो व्रजश्रेष्ठ श्रीवृषभानु राजाकी पवित्र कल्पलता-स्वरूप हैं, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दासीकी पदवीसे अभिषिक्त करेंगी—अपनी दासी बनाएँगी ॥१॥

रक्तवर्णके पटवस्त्रोंसे सुशोभित नितम्बों पर इधर-उधर झूलती हुई क्षुद्र घण्टिकाओं द्वारा जो नृत्य प्रकाश करती हैं, एवं स्तन रूपी कलशोंके ऊपर इधर-उधर डोलती हुई सुदीर्घ मुक्तामालाओंके द्वारा जिनकी शोभा सम्पन्न होती है, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दासीकी पदवीसे अभिषिक्त करेंगी ॥२॥

जिनका कटि-प्रदेश सुन्दर पद्म-कर्णिकाकी भाँति अतिशय कान्ति-विशिष्ट है, जिनकी किशोरावस्था रूप अमृत नव-यौवनरूप कपूर द्वारा मिश्रित है एवं जिनके बिम्बाधरके अग्रभागसे मन्द हास्य-रस प्रकाशित हो रहा है, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दासीकी पदवीसे अभिषिक्त करेंगी ॥३॥

गौओंको चराकर बनसे आते हुए अति चपल व्रजराज-नन्दन श्रीकृष्णका दर्शन करके जिनके दोनों नेत्र शंकाकुल हो जाते हैं एवं जो नेत्रभंगिमा प्रकाश करके सुमधुर मृदु वाक्यों द्वारा श्रीकृष्णका स्तव करती हैं, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दास की पदवीसे अभिषिक्त करेंगी ॥४॥

जो समस्त व्रज महिलाओंकी प्राणस्वरूपा हैं, नन्दराजकी पत्नी यशोदादेवीके कृष्ण-तुल्य स्नेहकी पात्री हैं एवं जिनकी अन्तरात्मा ललिता सखीके सुललित आन्तरिक स्नेहसे प्रफुल्लित रहती हैं, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दासीके पदसे अभिषिक्त करेंगी ॥५॥

इस सुन्दर बनमें जो निरन्तर विशाखा सखीके सहित नानाप्रकारके वृक्षोंके विविध पुष्पोंसे वैजयन्ती मालाकी रचना करती हैं, जो श्रेयसी अर्थात् मंगलस्वरूपा हैं, अतएव अघासुरको मारनेवाले श्रीकृष्णके सुन्दर वक्षःस्थलमें परम प्रेयसीके रूपमें ग्रहीत हैं, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दासी की पदवीसे अभिषिक्त करेंगी ॥६॥

जो वेणु-ध्वनिको सुनकर कुञ्जके बीचमें विराज-

मान श्रीकृष्णके निकट शीघ्रतापूर्ण गमन करके अर्द्ध-उन्मीलित नेत्रोंसे नतमस्तक होकर कानोंको सहलाने लगी थीं, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दासी-की पदवीसे अभिषिक्त करेंगी ॥७॥

निर्मल पद्मराजिको स्पर्श करनेवाली वायु द्वारा सुशीतल अपने सरोवर श्रीराधाकुण्डमें जो श्री-राधिका ग्रीष्मकालमें सायंकाल परमानन्दलाभ करती हुई सखियोंसे परिवेष्टित होकर बकासुर विनाशी श्रीकृष्णको क्रीड़ा कराती हैं, वे श्रीमती राधिका कब मुझे अपनी दासीकी पदवीसे अभिषिक्त करेंगी ॥८॥

जो समस्त प्रकारकी आशाओंका परित्याग करके कातर-स्वभावसे निर्मलचित्त होकर इस विशुद्ध श्रीराधाष्टक का पाठ करते हैं, वे गोपराज-नन्दन श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर उसकी श्रीराधिकाके निजगणों में गणना करते हैं ॥९॥

सुनीति और दुर्नीति

[ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी]

आचार-व्यवहारकी वह रीति, जिससे जगत्का कल्याण हो तथा जो न्यायसंगत प्रतीत हो, उसे "सुनीति" कहते हैं। सुनीतिके प्रभावसे सांसारिक अशुभ नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इसके विपरीत जो न्यायसंगत नहीं है तथा जिससे अपना और दूसरोंका अहित होता है, उस आचार-व्यवहारको "दुर्नीति" कहते हैं।

दुर्नीतिका उदाहरण और उससे बचनेका उपाय

जिस नीति या अनीतिसे लोक और समाजका अहित होता है, वह सर्व प्रकारसे वर्जनीय है—इसका सभी समाजहितैषी एक स्वरसे समर्थन करते हैं। झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, दूसरेका द्रव्य चुरा लेना, पर-स्त्रीका अपहरण करना, आग लगाना, कुकर्ममें सहायता करना, घूस ले-देकर अपनेको या दूसरेको लाभान्वित करना—ये सब कार्य दुर्नीतिके अन्तर्गत हैं। नीति-विरोधी क्रियाओंकी गणना अपराधके अन्तर्गत होती है। इसलिये अपराधीको पापी और दण्डयोग्य माना गया है। परहिंसा और परद्रोह स्थूल-सूक्ष्मके भेदसे नाना प्रकारके पापोंको उपस्थित करते हैं। लौकिक स्मार्त्तगण इन पापोंसे मुक्त होनेके लिये 'पाशव-नीति'—डंडेकी व्यवस्था देते हैं। मनुष्य दुःख-क्लेश नहीं चाहता। पापी व्यक्ति दूसरोंको क्लेश देता है। यदि बदलेमें उसे अत्यधिक क्लेश पहुँचाया जाय, तो वह भविष्य-जीवनके लिये शिक्षा लाभ कर सकेगा कि दूसरोंको कष्ट पहुँचानेसे मुझे भी उससे अधिक कष्ट मिलेगा। और ऐसा सोचकर वह पापोंसे बच सकता है।

कर्मीकी नीति—सुनीति परायण लोगोंका आदर और दुर्नैतिकोंका अनादर

लोक-समाजमें न्यायपरायण लोगोंका आदर होता है। लोग उन्हें पुण्यवान् कहते हैं। न्याय-परायण व्यक्ति कुकर्मोंसे दूर रहते हैं। लोक-समाजमें पापीका अनादर और पुण्यवानोंका आदर देखा जाता है। पाप और पुण्य कर्मी लोगोंके कृत्यके अन्तर्गत होते हैं। इसलिए वे एकको कुकर्मी और दूसरेको सत्कर्मी कहते हैं। पापसे अधर्म होता है और अधर्मसे जीवकी दुर्गति होती है तथा समाजका भी अहित होता है। पुण्यसे अपना और दूसरोंका हित होता है। अतएव इस लोकमें पापके प्रायश्चित और पुण्यके फल-भोगका प्रभाव मानव-चिन्ताधारा पर अधिक होता है। यह सब कर्मियोंकी नीतिके अन्तर्गत होता है। नैयायिक लोग कर्मियोंकी नीतिमें आबद्ध होकर तर्क-प्रभावित बुद्धिके कारण सत्कर्मके पक्षपाती होते हैं और भ्रान्त लोक-समाजके विरुद्ध अपने विचारोंको प्रकट करनेमें संकोच बोध करते हैं। जिस समय जीव अपनेको संसारका या समाज-का अंश मानता है, उसकी कर्त्तव्य-बुद्धि उपकारीके सहित सहयोग और अपकारीके प्रति असहयोगकी नीति अपनाती है।

ज्ञानी नीति और दुर्नीतिसे निरपेक्ष होते हैं

ज्ञानीजन संसारकी किसी भी वस्तुसे प्रीति या बन्धुत्व जोड़नेके पक्षपाती नहीं होते। वे प्रकृति-सर्गसे परेकी वस्तुके लिये अग्रसर होते हैं।

नीति और दुर्नीतिके प्रति योगियोंका दृष्टिकोण

कर्मीलोग पापसे छुटकारा पानेके लिये योग-पद्धतिका अवलम्बन करते हैं। त्यागमय जीवन ही पाप-पुण्यसे जीवकी रक्षा करके उन्हें शान्ति प्रदान कर सकता है—ऐसा सोचकर वे निर्जनमें वास करते हैं तथा जागतिक कार्योंके प्रति निरुत्साह प्रदर्शन करते हैं। इसके लिये वे यम, नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—इस अष्टांग योगका अवलम्बन करते हैं। उस समय वे सांसारिक विचारोंके साथ सम्बन्ध रखकर बहिर्जगत के स्थूल-सूक्ष्म विषयोंसे अपने चित्तको निवृत्त करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी वे सांसारिक विषयोंसे निवृत्त होकर निर्विशेष या कैवल्य-विचारका आदर करने लग जाते हैं। जिस प्रकार भोगी-समाज ऐहिक और पारलौकिक भोगोंको भोगनेमें ही अपनी इतिकर्त्तव्यता मानता है, उसी प्रकार ज्ञानी-सम्प्रदाय भी सब कुछ त्याग कर निर्विशेष प्राप्तिको ही चरम प्रयोजन समझता है। वास्तवमें यह भी कर्म-चेष्टाका रूपान्तर मात्र ही है।

ज्ञान-चेष्टाके विचारसे निर्विशेष भावकी प्राप्तिके लिये जिस नैष्कर्म्यवादको अपनाया जाता है, वह कर्मीकी दृष्टिमें जड़ताके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? जो कर्मी आलस्यको बुरा समझते हैं, वे भिक्षा द्वारा जीविका निर्वाह करनेवालोंको आदरकी दृष्टिसे नहीं देख सकते। वे ऐसा समझते हैं कि वैसा निश्चेष्ट-जीवन जीवको कुकर्मकी ओर खींच ले जायगा। अतएव कर्ममय प्रवृत्त-जीवन ही जीवके लिये वरणीय है। इसीलिये वे ज्ञानियोंको चेष्टारहित और कर्मजगत्से निवृत समझकर उनका आदर नहीं करते।

इसके विपरीत कुछ लोग बहिर्जगतकी आनु-ष्ठानिक क्रियाओंसे तङ्ग आकर "और नहीं, और

नहीं" कहकर उनसे विमुख हो जाते हैं और निर्विशेष विचारोंका समर्थन करने लग जाते हैं। कर्मफल-भोगका विचार आत्मज्ञान-राहित्यमें अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होनेका प्रयत्न करते हैं। और कुछ लोग मुक्त अवस्थामें निर्विशेष-विचारमें निमग्न होकर केवल चेतन-नामक चिन्ता-श्रोतकी प्रधानता दिया करते हैं। फिर नैष्कर्म विचारमें अचिन्मात्र-वाद नामक दोनों विचार ही न्यायसंगत प्रतीत होते हैं। इसलिए वे परस्परकी विषमताओंको दूर कर समन्वयवादी हो पड़ते हैं तथा चेतनकी नित्य अधिष्ठान-राहित्य और नित्य अधिष्ठान साहित्य—इन दोनों अवस्थाओंके बीच जो भेद होता है, उसे दूर कर देते हैं। अचिन्मात्रवाद और चिन्मात्रवाद—इन दोनों अवस्थाओंकी विषमता कर्मवादके अन्तरालमें दृष्ट होनेपर भी दोनों ही जो नास्तिक्य और आस्तिक्यवाद स्थापन करते हैं, उनमें भेद दिखलानेकी आवश्यता नहीं होती। अतः चिद्विलास परायण सम्प्रदाय इन बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों सम्प्रदायोंको ही आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते।

साधारणतः जागतिक बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य अचिन्मात्रवाद या चिन्मात्रवादकी ओर ही अग्रसर होते हैं। क्योंकि वे प्रायः चिद्विलासवादके विशुद्ध अस्तित्वसे अनभिज्ञ होते हैं। भोग और मोक्ष तथा इनका न्याय और अन्याय,वैध और अवैधका विचार चिद्विलासकी भूमिकामें प्रवेश करनेमें असमर्थ होता है। इसीलिये भोगी चिद्विलासको जड़विलास तथा ज्ञानी उसे चिन्मात्र बतलानेके लिये व्यग्र होते हैं तथा चिद्विलासमें भी जड़विलासके समान सुनीति और दुर्नीति होनेका आरोप करते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसा करना दुर्बुद्धिताका ही परिचय है। चेतनके विलासमें जागतिक स्थूलता या सूक्ष्मताका स्थान नहीं है।

ज्ञानीकी नीतिमें धर्म-पथ या उपासना पथका आदर नहीं है। वे लोग चिद्विलासमयी उपासना एवं जड़-विलासको समश्रेणीमें मानते हैं तथा चिद्-विलासकी नित्यवृत्ति—भक्तिको भी क्षणभंगुर काम-क्रोध आदिके अन्तर्गत समझते हैं। ऐसे ज्ञानियोंकी असती जड़ेन्द्रियाँ उनके धैर्यको विलुप्त करके चिद्-विलासकी विचित्रताके प्रतिकूल जड़निर्विशेषरूप दुर्नीतिमें फँसा देती है। ऐसी दशामें निर्भेद ब्रह्मकी खोज करनेवाले ज्ञानीकी दुर्बलता और उपरताको भगवद्भक्तजन दुर्नीतिके रूपमें दर्शन करते हैं।

भक्तकी नीति भगवत्सेवामयी होती है

भक्तकी नीति भगवत् सेवामयी होती है; भक्त-जन भगवानकी बहिरङ्गा मायासे सम्बन्धरहित होते हैं तथा उस बहिरङ्गा माया द्वारा रचित निर्विशेष अवस्थाके प्रति आदरकी बुद्धि नहीं रखते। वे कर्मी-की सुनीति, ज्ञानीकी सुनीति, कर्मीकी दुर्नीति और ज्ञानीकी दुर्नीति—सबको समभावसे देखनेकी निर-पेक्षता लाभ करते हैं। अतएव प्रत्येक कल्याणकामी व्यक्ति भक्तकी सुनीतिकी सर्वश्रेष्ठताकी उपलब्धि कर सकते हैं। जड़ भोगपरायण कर्मी, निर्विशेष ब्रह्मवादी, प्रकृतिवादी, प्रच्छन्न मायावादी और नास्तिक—ये लोग चिद्विलासकी सुनीति और दुर्नीतिके विचारोंको समझनेमें सर्वथा असमर्थ होते हैं।

प्रयोजन-विचार

बद्ध जीवकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय होती है। क्योंकि वह चेतन-तत्त्व होकर भी बद्धावस्थामें अपनेको जड़ वस्तु मानकर शारीरिक और मानसिक क्लेशोंको अपना मान बैठा है। वह सांसारिक अभावोंसे खिन्न होकर कष्ट पाता है। आहारके अभावसे क्षुधार्थ होकर रोता है। नाना-प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त होकर 'हाय मरा! हाय मरा!' करता है। कभी कमनीय कामिनियोंकी कटाक्षकी आशासे न जाने कितने ही नीच कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। सन्तान के मर जानेसे, स्त्री-वियोग होनेसे, और शारीरिक मानसिक रोगोंसे जर्जरित आदि होनेसे वह चिन्ताके अगाध सागरमें निमग्न हो जाता है। कभी विराट अट्टालिका निर्माणकर अपनेको राजराजेश्वर मानता है, तो कभी किसीकी हत्या करके उसीमें अपनी वीरता समझता है। कभी बेतारसे सम्वाद भेजकर विस्मित होता है। कभी एक चिकित्सा-पुस्तक लिखकर अपनी उपाधिके भारको बढ़ाता है, तो कभी रेल, हवाई जहाज, रेडियो, एटमबम, नाइट्रोजन-बम आदिका निर्माण कर अपनेको वैज्ञानिक मान कर सृष्टिकर्त्ताका भी उपहास करनेसे नहीं चूकता और कभी नक्षत्रोंकी गति निर्द्धारित करनेका दावा कर अपनेको ज्योतिर्विद समझता है। इतना ही नहीं, द्वेष-हिंसा-काम-क्रोध आदि दुर्गुणोंसे अपने चित्तको सर्वदा कलुषित करता रहता है। कभी थोड़ासा अन्न-दानकर, औषधि या पदार्थ-विद्या दानका अपनेको बड़ा ही पुण्यात्मा समझता है।

अहा! क्या यह सब कार्य शुद्ध चेतन जीवके लिये उपयुक्त हैं? जिन जीवोंको वैकुण्ठमें वास कर विशुद्ध प्रेमानन्दका आस्वादन करना चाहिए था, उनकी ये प्रवृत्तियाँ अतिशय क्षुद्र और हेय हैं। कहाँ हरिसेवामृत और कहाँ नारी-संभोगजनित तुच्छ और घृणित सुख! कहाँ अन्तःकरणको पवित्र करनेवाला साधुसंग! और कहाँ चित्तविकारकारिणी रण-सज्जा!

अहा! हम वास्तवमें क्या हैं? अभी क्या बने हुए हैं? किस अवस्थामें पड़े हुए हैं?—इन प्रश्नों पर सम्यक्रूपसे विचार करने पर हम जान पायेंगे कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापोंसे जड़ीभूत होकर हमलोग अपने स्थानसे च्युत हो गये हैं। हमारी ऐसी दुर्गति क्यों हुई है?—इसलिए कि हमने अपने प्रियप्रभु-परमानन्द परमेश्वर के चरणोंमें अपराध किया है। स्वधर्मको भूलना ही हमारा अपराध है।

जीव चिदानन्द स्वरूप है—यह पहले ही दिखलाया जा चुका है। उसका गठन चिन्मय उपकरणोंसे हुआ है। आनन्द ही उसका स्व-धर्म है। सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान्से जीवका जो नित्य सम्बन्ध-सूत्र है, उसीका नाम प्रीति है। जीवानन्द और भगवदानन्दके संयोजकके रूपमें प्रीति-सूत्र नित्य वर्तमान है। वही प्रीति-धर्म, चित्कण जीवोंको परस्पर आकर्षित करता है। वह अतिशय रमणीय, सूक्ष्म और पवित्र है।

जीव जब भ्रममें पड़कर भगवानकी नित्यसेवासे विमुख होते हैं, तब वे मायिक जगत्में पतित होकर विषय-भोगोंका अन्वेषण करते हैं। भगवानकी दासी मायादेवी इन पतित जीवोंको अपराधी जानकर अपने कारागारमें बंद कर देती है। संसार ही कारागार है। मायादेवी अपने इस भव-कारागारमें हमें नाना-प्रकारकी यातनाएँ देती है। इस समय हमारा भगवत्-प्रीति रूप स्वधर्म आच्छादित होकर विषय-रागके रूपमें हमारे अहितकी वृद्धि कर रहा है।

स्वधर्मके अनुशीलनसे ही हमारा आत्म कल्याण सम्भव है। अतएव यही हमारा एकमात्र प्रयोजन है। जबतक हम बद्धावस्थामें हैं, तबतक हमारा स्वधर्म-अनुशीलन विशुद्ध नहीं हो सकता है।

हमारी स्वधर्म-वृत्ति न तो लुप्त हुई है और न कभी लुप्त हो सकती है। हाँ, वह इस समय सुप्त होकर गुप्त अवस्थामें है। हमें उसे प्रकट करना है। अनुशीलन द्वारा ही उसे प्रकट किया जा सकता है। जब स्वधर्म-वृत्ति— भगवत् सेवन-वृत्ति जग जायगी, तब लौकिक और स्वर्गीय सुखोंकी बात ही क्या, मुक्ति भी तुच्छ जान पड़ेगी। और तभी वैकुण्ठ प्राप्ति सहज हो सकेगी।

जब मुक्ति साध्य वस्तु ही नहीं है, तब वह हमारे लिये प्रयोजन नहीं है। प्रीति ही हमारा साध्य है। इसलिये प्रीति ही हमारा प्रयोजन है। ज्ञान-मार्गका आश्रय करनेवाले संसारकी यातनाओंसे भयभीत होकर मुक्तिका अनुसंधान करते हैं। फलस्वरूप असाध्य वस्तुका साधन विफल हो जाता है एवं साधकका भी यथार्थ कल्याण नहीं होता। प्रीति साधकोंको अनायास ही सम्पूर्ण ज्ञान और मुक्ति लाभ होता है।

मेरे दत्त कौस्तुभ नामक ग्रन्थमें प्रीतिका लक्षण इस प्रकार लिखा है--

आकर्षणसन्निधौ लौहः प्रवृत्तो दृश्यते यथा।
अणोर्महति चैतन्ये प्रवृत्तेः प्रीतिलक्षणम् ॥

—जैसे लोहा चुम्बकके प्रति स्वाभाविक रूपसे आकर्षित होता है, वैसे ही अणुचैतन्य जीवकी वृहत् चैतन्य भगवानके प्रति जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसीका नाम प्रीति है। आत्मा और परमात्मा (भगवान) जिस तरह उपाधि शून्य हैं, वैसे ही वे निर्मल और मायासे रहित है। उसी विशुद्ध परन्तु आच्छादित प्रीतिको प्रकट करना ही हमारा चरम प्रयोजन है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर

भागवत धर्मकी महत्ता

जैसे-जैसे आयुके दिन बीत रहे हैं, दिनोंदिन हम मृत्युके निकट पहुँच रहे हैं । वह दिन दूर नहीं हैं, जिस दिन हमें यहाँसे प्रस्थान कर जाना पड़ेगा और हमारी मृत्युकी चर्चा सर्वत्र वायुकी भाँति अड़ोसी-पड़ोसी सगे-सम्बन्धियोंमें फैल जायगी । जिन्हें मेरा-मेरा कहते जीभ सूखती थी, जिनके लिये लड़ाई-झगड़ा करनेमें भी हम विचार नहीं करते थे, वह भी हमारे नहीं रहेंगे ।

जिस शरीरको प्रतिदिन धो-पोंछ कर स्वच्छ किया जाता है, सर्दी-गर्मी-वर्षासे बचाया जाता है, जिसके लिये सभी प्रकारकी साज-सज्जा तैयार की जाती है, जिसके पोषणके लिये सभी प्रकारके नीचसे नीच कार्य करनेको हम प्रवृत्त होते हैं, चोरी करते हैं, झूँठ बोलते हैं, अन्याय करते हैं—वह एक दिन राखका ढेर बन जायगा । उच्च प्रासाद, सिंहासन, पद-प्रतिष्ठा, विद्या-बुद्धि, महत्ता, शान-शौकत, रूप, धन, परिवार—सब कुछ यहीं धरा रह जायगा । इस जीवनमें यदि किसीकी कुछ भलाई की होगी तो लोग अपने स्वार्थके लिये दो-चार दिन हमें याद कर लेंगे, सभाओंमें शोक प्रस्ताव पासकर सहानुभूति प्रकट कर देंगे। यदि किसीको दुःख ही दुःख देते हुए मृत्युके ग्रास बनें, तो हमारे शव पर लोग थूकेंगे।

यही मानवजीवनकी दशा है । इसे समय-समय पर प्रत्येक व्यक्ति सोचता है । अपने नेत्रोंसे देखता है, विपत्तिके महोदधिमें डूबने पर करुण क्रंदन, चीत्कार करता है । फिर भी माया मोहित अबोध मानव कालचक्रमें घूमता हुआ पारमार्थिक सुखको भूलकर अपने शरीर, स्त्री-पुत्र, गृह, पशु, बन्धु-बान्धवों और क्षणिक भोगोंमें आसक्त होकर उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारके मनोरथ करता हुआ मोहकी निद्रामें झूम-झूम अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानने लगता है—

संदह्यमानसर्वांग एषामुद्वहनाधिना ।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥
आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया ।
रहोरचितयाऽऽलापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ॥
गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः ।
कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥

(श्रीमद्भा० ३।३०।७-९)

गृहस्थीके पालन पोषणकी चिन्तासे उसके सम्पूर्ण अङ्ग जलते रहते हैं, तथापि दुर्वासनाओंसे दूषित हृदय होनेके कारण वह मूढ़ उन्हींके लिये तरह-तरह के पाप करता है । कुलटा स्त्रियोंके द्वारा एकान्तमें सम्भोगादिके समय प्रदर्शित किये हुए कपटपूर्ण प्रेममें तथा बालकोंकी मीठी बातोंमें मन और इन्द्रियोंके फँस जानेसे गृहस्थ पुरुष घरके दुःख-प्रधान कपटपूर्ण कर्मोंमें लिप्त हो जाता है । उस समय बहुत सावधानी करने पर यदि उसे किसी दुःखका प्रतिकार करनेमें सफलता मिल जाती है, तो उसे ही वह सुख-सा मान लेता है ।

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।
दिवा चार्थेहया राजन्कुटुम्ब भरणेन वा ॥
देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥
(श्रीमद्भा० २।१।३-४)

उसकी सारी आयु योंही बीत जाती है। उसकी रात नींद या स्त्री-प्रसङ्गमें कटती है और दिन धनकी हाय-हाय या कुटुम्बियोंके भरण-पोषणमें समाप्त होता है। मनुष्य संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं, परन्तु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो गया है कि रात-दिन मनको मृत्युका ग्रास होते हुए देखकर भी नहीं देखता और चेतता नहीं है।

हम जगत्में यदि जीनेको ही अपना एक ध्येय मानलें, तो क्या वृक्ष नहीं जीते हैं ? यदि श्वांस लेना ही सब कुछ है, तो लुहारकी धौंकनी भी क्या श्वांस नहीं लेती ? खाना-पीना मैथुन ही श्रेष्ठ है तो यह कार्य तो ग्राम शूकर आदि पशु भी कर लेते हैं।

इससे यह सिद्ध है कि भगवत्प्राप्ति ही जीवका चरमलक्ष्य है। वही उसकी अन्तिम सिद्धि है। अन्यथा मनुष्य होने पर भी वह पशुतुल्य है और उसके सुन्दरसे सुन्दर अङ्ग भी अनुपादेय हैं। अङ्गों की सार्थकता वास्तवमें भगवत्परक होनेमें ही है—

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥
जीवञ्छवो भागवतांघ्रिरेणुं
न जातुमर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवोयस्तु न वेद गन्धम् ॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
(श्रीमद्भा० २।३।१८-२४)

क्या वृक्ष नहीं जीते ? क्या लुहारकी धौंकनी श्वांस नहीं लेती ? गाँवके अन्य पालतू पशु क्या मनुष्य-पशुकी ही भाँति खाते-पीते या मैथुन नहीं करते ?

जिसके कानमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथा कभी नहीं पड़ी, वह नर पशु कुत्ते, ग्राम शूकर, ऊँट और गधेसे भी गया बीता है। जो मनुष्य

भगवान् श्रीकृष्णकी कथा कभी नहीं सुनता, उसके कान बिलके समान हैं। जो जीभ भगवान्‌की लीलाओं का गायन नहीं करती, वह मेंढ़ककी जीभके समान टर्र-टर्र करने वाली है, उसका तो न रहना ही अच्छा है। जो शिर कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त होने पर भी बोझमात्र ही है। जो हाथ भगवान्‌की सेवा-पूजा नहीं करते, वे सोनेके कङ्कणसे भूषित होने पर भी मुर्देके हाथ हैं। जो आँखें भगवान्‌की याद दिलाने वाली मूर्ति, तीर्थ, नदी आदिका दर्शन नहीं करतीं, वे मोरोंकी पांखमें बने हुए आँखोंके चिन्हके समान निरर्थक हैं। मनुष्योंके वे पैर चलनेकी शक्ति रखने पर भी न चलनेवाले पेड़ों जैसे ही हैं, जो भगवान्‌की लीला-स्थलियोंकी यात्रा नहीं करते। जिस मनुष्यने भगवत्प्रेमी सन्तोंके चरणोंकी धूल कभी शिर पर नहीं चढ़ायी, वह जीता हुआ भी मुर्दा है। जिस मनुष्यने भगवान्‌के चरणों पर चढ़ी हुई तुलसीकी सुगन्ध लेकर उसकी सराहना नहीं की, वह श्वांस लेता हुआ भी श्वांस रहित शव है। वह हृदय नहीं लोहा है, जो भगवान्‌के मङ्गलमय नामोंका श्रवण कीर्तन करने पर भी पिघल कर उन्हीं की ओर बह नहीं जाता, उसकी सार्थकता इसीमें है कि वह पिघल जाय, नेत्रोंसे आँसू झलकने लगें और शरीरका रोम-रोम खिल उठे।

ऐसी स्थिति तब प्राप्त होगी, जब हमारा प्रत्येक कार्य परम प्रिय प्रभुके लिये हो, प्रत्येक क्षण उनकी सेवामें बीते, मन इन्द्रियाँ उन्हींमें सलग्न हों। यही जीवका उत्कृष्ट धर्म है।

सर्वे पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहतायया ऽत्मा संप्रसीदति॥
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥

(श्रीमद्भा० १।२।६,८,१४)

मनुष्यके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे; ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्द स्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य होता है। धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्य के हृदयमें भगवान्‌की लीला कथाओंके प्रति अनुराग का उदय न हो तो वह निराश्रम ही श्रम है। वही धर्म सत्यधर्म है जो भगवत् प्राप्तिका साधक हो। इसलिये एकाग्र मनसे भक्तवत्सल भगवान्‌का ही नित्य-निरन्तर श्रवण, कीर्तन, ध्यान और आराधन करना चाहिये।

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थि निबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम्॥
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणिविधुनोति सुहृत्सताम्॥

(श्रीमद्भा० १।२।१५-१७)

कर्मकी गाँठ बड़ी कड़ी है। विचारवान् पुरुष भगवान्‌के चिन्तनकी तलवारसे उस गाँठको काट

डालते हैं। तब भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो भगवान्‌की लीला कथाओंमें प्रेम न करे। पवित्र तीर्थोंका सेवन करनेसे महत्सेवा तदनन्तर श्रवण की इच्छा, फिर श्रद्धा तत्पश्चात् भगवत् कथामें रुचि होती है। भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करने वाले हैं। वे अपनी कथा सुनने वालोंके हृदयमें आकर स्थित हो जाते हैं और उनकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं; क्योंकि वे संतोंके नित्य-सुहृत् हैं।

भगवान्‌की भक्ति और भगवद् भक्तोंके सेवनसे अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब भगवान् श्रीकृष्णके प्रति स्थायी प्रेमकी प्राप्ति होती है। तब रजोगुण और तमोगुणके भाव-काम और लोभादि शान्त हो जाते हैं और चित्त इनसे रहित होकर सत्वगुणमें स्थित एवं निर्मल हो जाता है:—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥
(श्रीमद्भा० १।२।२०-२२)

इस प्रकार भगवान्‌की प्रेममयी भक्तिसे जब संसारकी समस्त आसक्तियां मिट जाती हैं, हृदय आनन्दसे भर जाता है, तब भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव अपने आप हो जाता है। हृदयमें आत्म-स्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह मिट जाते हैं और कर्म बन्धन क्षीण हो जाता है। इसी से बुद्धिमान् लोग नित्य-निरन्तर बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेमभाव रखते हैं, जिससे आत्म प्रसारकी प्राप्ति होती है।

इस समय बड़ी शीघ्रतासे समयका परिवर्तन हो रहा है। जो कल था, वह आज नहीं है; जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। जहाँ जलकी निर्मल धारा बह रही है वहाँ स्थल हो जायगा, जहाँ समतल भूमि है वहाँ विशाल पर्वत खड़े होंगे, जहाँ गगनचुम्बी प्रासाद है, वहाँ निम्नोन्नत भूमि होगी, जहाँ सघन वन है, वहाँ नगर दीख पड़ेगा और जहाँ नगर है, वहाँ अरण्य बन जायगा। जो राजा है, रङ्क हो जायगा; जो दीन-हीन कङ्गाल है, वह राजा बन बैठेगा; बुद्धिमान् मूर्ख बन जायगा और मूर्ख बुद्धिमानोंका सिरताज कला-कौशलसे निपुण, इसके अतिरिक्त सर्वग्रासी भौतिकविज्ञान अपने प्रभावसे धर्म, कर्म, नीतिका नाश करता हुआ आगे बढ़ता रहेगा कलिराज और उसका परिवार मनुष्योंके शरीर में प्रवेश नहीं करने योग्य कार्य भी करा डालेगा। ऐसी दुर्दमनीय विकट परिस्थितिमें अकुतोभय भगवत्पाद पद्मोंकी शरण ही हम सबके लिये सम्बल है। भगवन्नाम कीर्तन ही हमारी पतवार है। भगवत्कथा श्रवण ही हमारा जीवन है। अतएव प्रेम पूरित हो गद्‌गद् वाणी से—

जयतु जयतु देवो देवकी नन्दनोऽयं
जयतु जयतु कृष्णो वृष्णि वंश प्रदीपः ।
जयतु जयतु मेघः श्यामलः कोमलाङ्गो
जयतु जयतु पृथ्वी भारनाशो मुकुन्दः ॥

उच्चारण करते हुए तन्मय होकर भगवान् गौर हरि के शब्दों में—

"हरि बोल, हरि बोल, मुकुन्द माधव गोविन्द बोल"

का सस्वर गान करते-करते हम सब कुछ भूल जांय।

—बागरोदी श्रीकृष्णचन्द शास्त्री काव्यतीर्थ साहित्याचार्य

भगवान की कथा

उस दिन इलाहाबादसे प्रकाशित 'अमृत बाजार' पत्रिकाके सम्पादक महोदयने बड़े दुःखके साथ सम्पादकीय शीर्षकमें निम्नलिखित बातें लिखी थीं—

"The national week has begun. The memories of Jallion-wallah Bagh and political serfdom no longer trouble us. But our trouble is far from being at end. In the dispensation of providence mankind cannot have any rest. If one kind of trouble goes another quickly follows. India politically free, is faced with difficulties which are no less serious then those trouble under a foreign rule....."

इसका भावार्थ है कि "जातीय सप्ताह आरम्भ हो गया है। हम लोगोंको उस जलिया वाले बागकी कहानी याद है, पराधीनताकी बात अब अधिक कष्ट नहीं देती, किन्तु हम लोगोंके कष्टमें कुछ भी कमी नहीं हुई। भगवानकी विधिमें इस प्रकारका नियम है कि कोई भी मनुष्य शान्तिसे नहीं रहेगा। यदि किसी प्रकार एक दुःख विनष्ट हो जाए तो दूसरा दुःख तुरन्त उपस्थित हो जाता है। भारतवर्ष भी यदि राष्ट्रीय सम्बन्धसे स्वाधीन हो गया है, तथापि इसके सन्मुख अन्य प्रकारकी बहुतसी दुःखपूर्ण समस्याएँ हैं, जिन्हें उसे सुलझाना है। एवं ये समस्याएँ पराधीनताकालकी समस्याओंकी अपेक्षा किसी भी अंशमें कम दुःखपूर्ण नहीं हैं।"

भारतवर्षकी स्वाधीनता और पराधीनताकी पुस्तकोंको खोलकर देखनेसे हम शास्त्र-चक्षु द्वारा यही देख पाते हैं कि सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगोंकी आयुका योग ४३२०००० सौर वर्ष है। उसमें कलियुगकी आयु ४३२००० वर्ष है। कलियुगका आरम्भ परीक्षितके राजत्वकालसे होता है। अर्थात् आजसे लगभग ५००० वर्ष पूर्व कलियुगका प्रारम्भ माना जाता है। इन ५००० वर्षोंके अन्तर्गत अन्तिम लगभग १००० वर्ष अर्थात् मोहम्मद गोरी (१०५० खृः) समयसे ही भारतवर्ष पराधीन रहा है; ऐसा मान लेने पर भी शास्त्रीय गणनाके अनुसार भारतवर्षके राजा ही महाराज परीक्षितके राजत्वकाल तक लगभग ३७७२००० वर्ष पृथ्वी पर ही नहीं, अपितु सागरसहित पृथ्वी पर शासन करते थे। इसकी तुलनामें यदि भारतवर्ष केवलमात्र १००० वर्ष पराधीन रहा तो इसके लिए हमारे मनिषीगण न तो अधिक चिन्ता करते थे और न करते हैं। राजनैतिक स्वाधीनता अथवा पराधीनताका कुछ भी मूल्य भारतीय मनीषिगण नहीं देते थे। भारतवर्षके सम्राटगण परीक्षित तक—२०० या ५०० वर्ष नहीं लाख-लाख वर्षों तक जो समस्त पृथ्वी का शासन करनेमें समर्थ हुए थे उसका कारण राजनैतिक नहीं था।

भारतवर्षके मनिषी यह जानते थे कि हमलोग जिस त्रिताप-यंत्रणामें हैं उसे राजनैतिक स्वाधीनता या पराधीनताके द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। भारतवर्षमें राजनैतिक स्वाधीनता-पराधीनताको लेकर जो महाभारतका राष्ट्रीय युद्ध हुआ था वह तात्कालिक युद्ध अठारह दिनमें समाप्त हो गया था। एवं उस युद्ध क्षेत्रमें वास्तविक मनुष्यका सुख-दुःख क्या है? और वह किस प्रकारसे दूर किया जा सकता है, उसका भी युद्ध क्षेत्रमें भगवद्गीताके माध्यमसे समाधान किया गया था।

अमृत बाजार पत्रिकाके सम्पादक महोदयने दुःख प्रकट करते हुए जो यह लिखा था—दुखके ऊपर दुख आकर उपस्थित होते हैं--इसपर गीताशास्त्रमें बहुत दिन पहले आलोचना हो चुकी है। यथा--"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।" भगवानकी जो दैवीमाया है वह सत्व-रज-तम रूपा त्रिगुणमयी है। एवं उससे छुटकारा पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसी दैवीको आधुनिक भाषामें Nature's law (प्राकृतिक नियम) कहा जा सकता है। एवं यही Nature's law (प्राकृतिक नियम) इतना दुरूह है जिसको हम समाचार पत्रोंमें लिखकर या बड़ी-बड़ी सभा-समितिमें प्रस्ताव पास करके कभी भी पार नहीं पा सकते। उस दैवीमायासे छुटकारा पाने के लिए (Nature's law over come करनेके लिए) हमलोग कितनी भी वैज्ञानिक गवेषणा क्यों न करें, वह सब इस दैवीमायाके अधीनतत्व है। इसीलिए हमलोग उसे जड़विज्ञान कहते हैं। क्योंकि जड़विज्ञानके द्वारा मायादेवीको वशीभूत करना इस प्रकार दुरूह है जिस प्रकार रात्रिकालमें दीपकके प्रकाशसे सूर्यको खोजना। हम लोग विज्ञान द्वारा जगतके दुखको दूरकर सुख लाने की परिकल्पनामें आजकल आणुविकयुगमें उपस्थित हुए हैं। आणुविक प्रक्रियाद्वारा जगतका जो सर्वनाश हो सकता है, इसके भविष्यको देखकर पाश्चात्य मनीषिगण चिंतित हो पड़े हैं। कोई-कोई वैज्ञानिक कहते हैं कि हम आणुविक शक्तिको जगतके सुखके लिए प्रयोगमें लाएँगे। किन्तु यह भी एक दैवीमाया की पहेली है। हम दैवीमायाकी आवरणात्मिका एवं विक्षेपात्मिका शक्तियोंको पार करनेमें असमर्थ हैं। जितना ही हम दैवीमायाको वशीभूत करनेका प्रयत्न करेंगे, महिषासुरके समान उतना ही वह दैवीमाया हमको परास्त करके रजोगुणके द्वारा विचलित एवं त्रिताप यंत्रणासे दग्ध करके कालरूपी सर्पके आधीन कर देगी। इसी प्रकार महिषासुरके साथ दैवीमाया का युद्ध चलता आरहा है। उसको न समझनेके कारण ही हम ऐसा दुःख प्रकट कर रहे हैं कि In the dispensation of providence mankind cannot have any rest"—अर्थात् भगवान्के विधानमें ऐसा ही नियम है कि मानव किसी भी प्रकार शान्ति नहीं पा सकता।

महिषासुर दलके सभी व्यक्ति दैवीमाया कर्त्तृक बहुत प्रकारसे पराजित होकर भी नहीं समझ सके हैं कि किस प्रकार Mankind can have any rest--(मनुष्य जाति शान्ति लाभ कर सकती है) "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।" ऐसा कहकर महिषासुर पक्षको सावधान करके उसके

बादकी पंक्तिमें ही किस प्रकारसे इस दैवीमायासे छुटकारा पाया जा सकता है, यह भी बतलाया गया है, जैसे "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" अर्थात् जो भगवानके पादपद्मोंमें शरणागत होते हैं, केवल वे ही दैवीमायासे छुटकारा पा सकते हैं।

महिषासुर जिस प्रकार विद्या, बुद्धि, तपस्या, धन, जन, जन्म और ऐश्वर्य आदि सब विषयमें पारंगत था, उसी प्रकार उसके आधुनिक वंशधर भी विद्या, बुद्धि, तपस्या, धन, जन इत्यादि विषयोंमें उससे कम पारङ्गत नहीं हैं। उनकी दैवीमायाके भोग करनेकी उपाय-उद्भावनी-शक्ति, विद्या, बुद्धि और तपस्या तनिक भी कम नहीं है। यद्यपि वे वैज्ञानिक गवेषणामें अनेक बुद्धि, तपस्या एवं धन-जनका अपव्यवहार करते हैं तथापि उसका जो फल होता है उससे जगतमें सुखकी अपेक्षा दुःखकी ही सृष्टि होती है। यही दैवीमायाकी विक्षेपात्मिका शक्तिका प्रभाव एवं कालसर्पका विषोद्गार है। इन सब कुकर्मोंके द्वारा जगतका जो महाअनिष्ट हो रहा है उसके द्वारा ये सब दैवीमाया-विमोहित वैज्ञानिक-सम्प्रदाय जो महापाप करता है उस फलसे वे चिर-दिन ही मूढ़ रह जाते हैं, जिससे वे भगवानके प्रति कभी भी प्रपत्ति करनेमें समर्थ नहीं होते।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(गी० ७।१५)

अर्थात्—दुष्कार्य परायण नराधम बुद्धिहीन लोग दैवीमाया द्वारा ज्ञानहीन होकर आसुरी भावका आश्रय करके भगवानमें कभी भी अनन्य भक्ति नहीं करते; उन आसुरी भाव वाले लोगोंका श्रीभगवद्गीताके सोलहवें अध्याय में (७ से २० तक) विश्लेषण किया गया है। (क्रमशः)

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदांत स्वामी महाराज

नम्र-निवेदन

'श्रीभागवत-पत्रिकाका' ७ वाँ वर्ष समाप्त हो चुका है अतः जिन महानुभावों ने सातवें वर्षकी भिक्षा न भेजी हो—वे कृपया शीघ्र भेज दें, साथ ही आगामी आठवें वर्ष की भिक्षा भी भेजनेकी कृपा करेंगे।

—प्रकाशक

जीव—बद्धजीव और मुक्तजीव

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीसनातन गोस्वामीको निम्नलिखित उपदेश दिया था—

अद्वयज्ञानतत्त्व कृष्ण स्वयं भगवान् ।
स्वरूपशक्तिते तार हय अवस्थान ॥
स्वांशविभिन्नांशरूपे हइया विस्तार ।
अनन्त वैकुण्ठ ब्रह्माण्डे करेन विहार ॥
स्वांशविस्तार चतुर्व्यूह अवतारगण ।
विभिन्नांशे जीव तार शक्तिते गणन ॥
सेई विभिन्नांश जीव दुइ त प्रकार ।
एक नित्यमुक्त, एक नित्यसंसार ॥
नित्यमुक्त नित्य कृष्णचरणे उन्मुख ।
कृष्ण पारिषद नाम भुञ्जे सेवासुख ॥
नित्यबद्ध कृष्ण हैते नित्यबहिर्मुख ।
नित्यसंसार भुञ्जे नरकादि दुःख ॥
सेई दोषे माया-पिशाची दण्ड करे तारे ।
आध्यात्मिक तापत्रय तारे जारि मारे ॥
काम क्रोधेर दास हञा तार लाथि खाय ।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु वैद्य पाय ॥
तार उपदेशमंत्रे पिशाच पलाय ।
कृष्णभक्ति पाय तबे कृष्ण निकट जाय ॥

(चै. च. मध्य २२।७-१५)

अन्यत्र—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ॥
सूर्यांशुकिरण, येन अग्निज्वालाचय ।

(चै. च. म. २०।१०८-९)

पुनः रूपशिक्षामें—

एइ रूपे ब्रह्माण्ड भरि अनन्त जीवगण ।
चौरासीलक्ष योनिते करये भ्रमण ॥
केशाग्र शतेक भाग पुनः शतांश करि ।
तार सम सूक्ष्मजीवेर स्वरूप विचारी ॥ *

(चैतन्यचरितामृत मध्य १९।१३८-३९)

सार्वभौमशिक्षामें भी—

मायाधीश मायावश ईश्वरे जीवे भेद ।
हेन जीव ईश्वर सह कहत अभेद ॥
गीताशास्त्रे जीवरूप शक्ति करि माने ।
हेन जीवे अभेद कर ईश्वरेर सने ॥

(चैतन्यचरितामृत मध्य ६।१६२,६३)

इन महावाक्योंका भावार्थ यह है कि अचिन्त्य-शक्तिविशिष्ट सर्वतंत्रस्वतंत्र इच्छामय कृष्णचन्द्र अपनी चिद्शक्ति द्वारा स्वांश और विभिन्नांश—दो प्रकारसे

---

* केशाग्र शतभागस्य शतांशसदृशात्मकः ।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपेऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः ॥

(चै. च. धृत श्लोकः म. १९।१४४)

विलास करते हैं। स्वांश द्वारा चतुर्व्यूह और अगणित अवतारोंका विस्तार करते हैं। विभिन्नांश द्वारा अनन्त जीवोंका विस्तार करते हैं।

स्वांशतत्त्व

क) स्वांश विस्तारमें पूर्ण चिच्छक्तिका ही हाथ होता है। स्वांश-तत्त्वके सभी विष्णुतत्त्व—सर्वशक्तिमान तत्त्व हैं। अंशावतार या चतुर्व्यूह रूप स्वांशगण भी पूर्ण तत्त्व (श्रीकृष्ण) से पूर्ण शक्ति प्राप्त होते हैं। जैसे, एक महाद्वीपसे अनन्त प्रदीप जलाये जानेपर भी महाद्वीप किसी भी प्रकारसे ह्रास नहीं होता। (ख) प्रत्येक प्रदीप महादीपके तुल्य होता है। उसी प्रकार स्वांश विस्तारको भी समझना चाहिए। स्वांशप्रकाशित सब पुरुष महेश्वर हैं और वे कर्मफल भोग नहीं करते हैं। वे कृष्णके समान इच्छामय होनेपर भी कृष्णकी इच्छाके अधीन होते हैं।

चिच्छक्तिके अत्यन्त सूक्ष्म खण्डांशसमूह विभिन्नांश के रूपमें जीव होते हैं। (ग) इसे तटस्था शक्ति कहते हैं। चिच्छक्ति और माया शक्तिके बीचका तत्त्व ही—तटस्था शक्ति है। इसमें मायाशक्तिका कोई कार्य नहीं है।

विभिन्नांश जीवतत्त्व

फिर भी उसका स्वरूप अत्यन्त क्षुद्र होने के कारण वह मायाके वशीभूत होने योग्य होता है अर्थात् मायाके प्रति आकर्षित होने योग्य होता है। कृष्णकी अचिन्त्यशक्तिसे ही ऐसी शक्तिका उदय हुआ है। कृष्ण की निरंकुश इच्छा ही इसका मूल है। विभिन्नांश जीव अपने कर्मफलका भोग करनेके योग्य होते हैं। (घ) वे अपनी स्वतन्त्रतासे जबतक कृष्णकी सेवामें नियुक्त रहते हैं। तबतक वे मायाके अथवा कर्मके अधीन नहीं होते; परन्तु जभी वे अपनी स्वतन्त्रताका

(क) केशग्रशतभागस्य शतांशसदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥
(चरितामृत)

(ख) दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतु समानधर्मा।
यस्तादृगेवहि च विष्णुतया विभाति गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५।४६)

(ग) बालाग्रस्तभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयस्तदनन्ताय कल्पते॥
(श्वे० उ०)

सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्ज्ञेयानामदं मनः। (भा० ११।१६।१७)

(घ) आत्मानमन्यच्च स वेद विद्वापि पिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यायायुक स तु नित्यबद्धो विद्यामयो वः स तु नित्यंमुक्तः॥ (भा० ११।११।७)

अपव्यवहार करके अपने भोगकी कामना करते हैं तथा कृष्णसेवा-धर्मको भूल जाते हैं, तभी वे मायासे मोहित होकर कर्म-परतन्त्र हो पड़ते हैं। पुनः जब उनको यह स्मरण हो आता है कि कृष्णकी सेवा ही उनका स्वधर्म है, तभी उनकी सारी कर्म-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और सदाके लिये वे मायाजालसे छुटकारा पा जाते हैं। *जड़-जगत्में आनेसे पूर्व ही जीवका बन्धन होनेके कारण उनके बन्धनको 'अनादि' कहा जाता है। उनको नित्यबद्ध भी कहते हैं। जो जीव कभी भी ऐसे बन्धनमें नहीं पड़े, उनको—नित्यमुक्त कहते हैं। जो बन्धनमें हैं वे नित्यबद्ध हैं।

कृष्ण और जीव

इन्हीं कारणोंसे ईश्वर-स्वरूप और जीव-स्वरूपमें विशेष भेद लक्षित होता है। ईश्वर मायाधीश हैं और जीव माया-प्रवण है एवं फलतः मायाबद्ध है। +कृष्ण-रूप विभुचित्स्वरूपका अंश होनेके कारण जीवको चित्कण और कृष्णसे अभिन्न कहा जाता है। परन्तु जीव कृष्णशक्ति होनेके कारण वह कृष्ण से अभिन्न भी माना गया है। अतएव श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने जीवके भेदाभेद प्रकाश होनेके कारण अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वकी शिक्षा दी है। उन्होंने सूर्यकी किरणोंमें स्थित क्षुद्र-क्षुद्र परमाणुओं तथा आगकी चिनगारियोंसे जीवकी तुलना देकर उन्हें कृष्णसे नित्य भिन्न—विभिन्नांश बतलाया है। "अहं ब्रह्मास्मि"—आदि प्रादेशिक वाक्योंके द्वारा जीवका परब्रह्मत्व कदापि सिद्ध नहीं हो सकता है। कृष्ण अर्थात् विष्णुतत्त्व ही एकमात्र परब्रह्म हैं। जीव भी चित्तत्त्व है; इसलिये उसे वस्तुकी दृष्टिसे ब्रह्म कहा जा सकता है—परब्रह्म नहीं। परब्रह्म स्वरूप कृष्णकी अंगकान्ति को ही ब्रह्मतत्त्व कहा गया है। वे ही जगतमें परमात्माके रूपमें अपना एक अंश विस्तार करते हैं और जगत्के बाहर व्यतिरेक अवस्थामें निर्विशेष आविर्भावरूप अचिन्त्य, अदृश्य, अप्राप्य ब्रह्म रूपमें प्रतिभा विस्तार करते हैं। कृष्णके अचिन्त्य विभिन्नांश देवता, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पशु, कीट, पतंग, भूत, प्रेत आदि विविध रूपोंमें फैले हैं। सब जीवोंमें मनुष्य योनि प्राप्त जीव ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि ये कृष्ण भक्ति करनेके योग्य हैं। मनुष्य होकर भी जीव अपने कर्मोंके दोषसे स्वर्ग और नरक का भोग करते हैं। मायाके वशीभूत जीव कृष्णको भूलकर नानाप्रकारके आशारूप फलोंकी खोजमें इधर-उधर भटकते फिरते हैं।

---

* भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥
(भा० ११।२।३५)

+त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्ध आत्मा कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥
(भा० ४।९।१५)

जीव अणुचैतन्य हैं। अतः वे स्वभावतः पूर्ण-चैतन्य—कृष्णके दास हैं। कृष्णदास्य ही जीवका नित्यस्वरूप है। अपने इसी नित्यस्वरूपको भूलकर जीव मायाके बंधनमें पड़े हुए हैं। अपने नित्यस्वरूप का स्मरण होनेपर जीव मुक्त हो जाते हैं। चैतन्य वस्तुमें स्वाभाविक रूपसे शक्ति होती है। जीव अणुचैतन्य होनेके कारण उसमें अणु परिमाणमें शक्ति होती है। इसलिये जीव स्वभावतः लगभग निःशक्ति-सा ही होता है—मुक्तावस्थामें कृष्णकी शक्ति पाकर उसी परिमाणमें शक्तियुक्त होते हैं। "मैं चैतन्य वस्तु हूँ"—ऐसा अध्यास कर जीवको शक्ति नहीं मिलती; फिर भी उससे जो मुक्ति मिलती है, वह निर्वाणरूपा मुक्ति है। परन्तु "मैं कृष्णदास हूँ"—इस प्रकारके अध्याससे जीव कृष्णशक्ति प्राप्त करता है और उसके द्वारा नित्यानन्द तकको प्राप्त कर लेता है। इससे मायाध्यासरूप भय सदाके लिये दूर हो जाता है।

बद्धजीव नाना प्रकारके आकारोंमें लक्षित होते हैं। इसका कारण उनका अपना-अपना कर्मफल है।* किसी मायिक गुण या धर्मसे जीवका गठन नहीं हुआ है। यदि यह स्वीकार किया जाता है कि मायिक धर्म या गुणोंसे जीवोंका गठन हुआ है, तो इससे मायावाद उपस्थित हो पड़ता है। जीव वस्तुतः शुद्ध चिद्वस्तु है और चिद्धर्म द्वारा ही उसका गठन हुआ है। परन्तु तटस्थधर्मके कारण जीव मायिक धर्ममें फँसनेके योग्य होता है। वह भी ऐसा तभी होता है, जब कि जीव कृष्णदास्यरूप अपना स्वधर्म भूल जाता है।

जीवका सत्व, आकार और विकार—सब कुछ चिन्मय होता है। परन्तु जीव अणुचैतन्य होनेके कारण उसका सत्व, आकार, विकार—सब कुछ इतना अणु होता है कि जीव मायासे बँध जाता है, तब सबसे पहले माया निर्मित मनोमय लिङ्गदेह उसके (जीवके) शुद्ध आकारको ढक लेती है। तदनन्तर कर्मक्षेत्रमें उपस्थित होने पर स्थूल देह उस जीव स्वरूपको लिङ्ग देहके साथ-साथ ही आच्छादित कर उसे जड़ कर्म करनेके योग्य बना देती है।† परन्तु शुद्ध-स्वरूपका मायिक विकार ही स्थूल और लिङ्गरूप है। अतएव उनमें सादृश्यता है। बद्ध जीवका स्थूल शरीर—भूमि, जल, पावक, वायु और आकाश—इन पंचभूतोंसे गठित हुआ है तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये तीन लिङ्ग-तत्त्व उसके लिङ्ग देहका गठन करते हैं।§ ये दोनों आच्छादन दूर होने पर जीव मायासे मुक्त हो पाता है। उस समय जीवका आत्म-

* मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्। लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्त्तते॥
(श्रीमद्भा० ११।२२।३६)

† मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः। आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्॥
(श्रीमद्भा० ११।२६।१)

§ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(गीता० ७-४-५)

मय चित् शरीर प्रकाशित होता है । मुक्तपुरुष अपने आत्मशरीरकी इन्द्रियोंसे कार्य करते हैं । स्थूल जगतका आहार, विहार, स्त्रीसंग, मलमूत्रत्याग, शारीरिक पीड़ा और अन्यान्य क्लेश—यह सब चित् शरीरमें कुछ भी नहीं होता । जीवने भ्रमवशतः जो भौतिक देहमें आत्मबुद्धि कर लिया है, उसीसे उसे भ्रमवशतः भौतिक शरीरके विकारोंको ही अपना सुख-दुःख आरोप कर लिया है ।• मुक्त पुरुषोंके सम्बन्धमें और भी एक गूढ़ रहस्य है । मुक्त होने पर भी जबतक उनमें जड़ज्ञानाभिमान रहता है या जड़ व्यतिरेक निर्वाण-बुद्धि रहती है, तबतक उनको भक्तिके लिये उपयोगी भागवती तनु लाभ नहीं होता ।‡ भक्तसाधुके संगसे जो आवान्तर मुक्ति होती है, वही भागवती शुद्ध तनुका उदय करा सकती है ।§ ज्ञानिजनके संगसे जो मुक्ति होती है, वह मुक्तिका अभिमान मात्र है तथा ऐसी अवस्था जीवके लिये दुर्दशामात्र है ।× यहाँ पर जीवके शुद्ध-स्वरूप, बद्ध-स्वरूप तथा मुक्त-स्वरूप —इनका संक्षेपमें वर्णन किया गया । जीवके कर्त्तव्याकर्तव्यके सम्बन्धमें आगे बतलाया जायगा ।

—श्रीचैतन्यशिक्षामृतसे अनूदित

• प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् । तत्त्वेन स्पर्शसंमूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥
नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् । एवं बुद्धिगुणान्पश्यन्ननीहोऽप्यानुकार्यते ॥
यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव । चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्राम्यतीव भूः ॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा । स्वप्नदृष्टाश्च दशार्हं तथा संसार आत्मनः ॥
अर्थेह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेनर्थागमो यथा ॥
(भा० ११।२२।५०-५५)

‡ हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति । अविपक्वकषायानां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥
(भा० १।६।२२)

§ एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः । कालः प्रादुरभूत्काले तड़ित् सौदामिनी यथा ॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् । आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥
(भा० १।६।२८-२९)

× येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ (भा० १०।२।३२)

सम्पादकीय—

श्रीभागवत-पत्रिकाका अष्टम वर्षमें पदार्पण

अखिल रसके आधार स्वरूप षड्ऐश्वर्य पूर्ण भगवान श्रीकृष्णकी कृपासे श्रीभागवत-पत्रिका आज आठवें वर्षमें पदार्पण कर रही है। श्रीभागवत-पत्रिकाका उद्देश्य त्रिकाल सत्य विशुद्ध भागवती वाणी का प्रचार कर जगत्का परम कल्याण करना है। भागवती वाणीके आचार और प्रचारके बिना जगत में यथार्थ सुख और शान्तिका होना आकाशमें फूल खिलनेकी भाँति असम्भव है। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखारविन्दसे जो भगवत-वाणी प्रकाशित हुई है, वह सबके लिये कल्याण-जनक और सेवनीय है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥
(भाग० २।१।११)

जो लोग लोक या परलोककी किसी भी वस्तु की इच्छा रखते हैं, अर्थात् जो भक्त हैं या इसके विपरीत संसारमें दुःखका अनुभव करके जो उससे विरक्त हो गये हैं, जो स्वर्ग अथवा अभय मोक्षपद आदिकी कामनावाले हैं तथा जो आत्माराम योगी पुरुष हैं, उन सबके लिये ही पूर्वाचार्यों द्वारा श्रीहरि के नाम-गुण आदिका पुनः पुनः श्रवण, कीर्तन और स्मरण—ये तीन परम साधन और साध्य निर्णीत हुए हैं। श्रीभागवत-पत्रिका भी जगतको यही संवाद देती है।

संसारमें अनेक प्रकारकी पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। राजनैतिक पत्रोंकी तो बात ही क्या, सामाजिक, सांस्कृतिक, रसायनिक, भौतिक, आन्तर्देशिक, धार्मिक, आर्थिक, भौगोलिक, संगीत तथा इनके अतिरिक्त नाना-प्रकारके भोग-विलास और सिनेमा-जगत्के संवादको वहन करनेवाली पत्रिकाओंकी यत्र-तत्र-सर्वत्र भरमार है। परन्तु 'मनुष्यजीवनका एकमार्थ ध्येय निखिल कल्याणके मूल भगवानके चरणकमलोंको प्राप्त होकर जीवनको सफल बनाना है। परन्तु आजका मनुष्य समाज विषयोंके संग्रह और उसको भोगनेमें ही मत्त होकर यथार्थ कल्याण से पराङ्मुख हो रहा है। समस्त प्राणियोंमें मानव श्रेष्ठ है। वह परमार्थका अधिकारी है। फिर भी वह (ब्रह्म-स्वरूप चिन्मय होनेपर भी) अपनेको भौतिक त्रिगुणात्मक स्थूल शरीर मानकर नाना प्रकारकी व्याधियोंसे अपनेको दुःखी मान रखा है तथा हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, अंग्रेज, रूसी, अमेरिकन और चीनी आदि मानकर आत्मज्ञानको जलांजलि दे बैठा है। इसलिये संसारके बड़े-बड़े नेता जगतमें साम्यभाव लानेकी चेष्टा करके भी इस कार्यमें असफल हो रहे हैं। साथ ही उनके प्रयत्नोंका विपरीत फल दृष्टिगोचर हो रहा है—चारों ओर द्वेष-भावना फैल रही है, और चारों ओर युद्धके बादल मंडरा रहे हैं। उदाहरण-स्वरूप वर्तमान भारत सरकार प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी आधार शिला वर्ण और आश्रम

की व्यवस्थाको मिटाकर देशमें श्रेणी-विहीन समाज की स्थापना कर सुख और शान्तिकी स्थापना करना चाहती है; परन्तु दूसरी तरफ कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सोसलिस्ट, द्राविड़ कड़कम, अकाली, जनसंघ, हिन्दू-महासभा, प्रजासोसलिस्ट, स्वतन्त्र पार्टी आदि विभिन्न श्रेणियाँ उत्पन्न होकर हमारा अधिकतर ध्वंश कर रही हैं। ये समस्त श्रेणियाँ सत्ताके भूखमें एक दूसरेकी शत्रु हो रही हैं। यदि संसारसे द्वेष-भावको दूर करना है तथा उसके बदले साम्यभावको प्रतिष्ठित करना है, तो जगतमें श्रीभागवत-पत्रिकाका ही एकमात्र प्रयोजन है। क्योंकि श्रीभागवत-पत्रिका ही मनुष्य समाजको परम साम्यभावका उपदेश देकर उसे विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल तक सबके प्रति समदर्शनका भाव सिखला कर पण्डित बनाती है। इस भावका पोषण करने वाले अनेक सज्जन उत्तरोत्तर 'श्रीभागवत-पत्रिका' का ग्राहक बनकर हमें विशेष उत्साहित कर रहे हैं और आशा है आगे और भी करते रहेंगे।

भगवान और श्रीभागवत-पत्रिका अभिन्न वस्तु हैं। तत्त्वविद् पुरुष अद्वय ज्ञानतत्त्वको तत्त्व वस्तु कहते हैं। अद्वयज्ञानका तात्पर्य यह है कि नाम और नामी अद्वयज्ञान तत्त्व हैं अर्थात् अभिन्न हैं। द्वैत-संसारमें नाम और नामी भिन्न होते हैं। जहाँ जल—नाम और जल—नामी वस्तु अर्थात् 'जल' शब्द और यथार्थ जलमें भेद है। 'जल' शब्दका उच्चारण करनेसे ही जल नहीं मिल जाता। प्यास लगनेपर 'जल' नामका उच्चारण करनेसे प्यास नहीं बुझती; उसके लिये 'जल' नामीकी आवश्यकता होती है। परन्तु अद्वयज्ञान भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर-वैशिष्ट्य परस्पर भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं भगवान हैं, वही भगवानका नाम है। 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण, हरे-हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥ —यह भगवन्नाम यदि भगवानसे पृथक होता, तो शुद्ध जात-रुचि भक्त इस भगवन्नामका कीर्तन करके गद्‌गद् पुलकित एवं पागल सा नहीं बन जाता। श्रीनामका कीर्तन करके अनुभवी भक्त नामी-भगवानका साक्षात रूपसे दर्शन कर कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं और कभी सबको रुलाते हैं; कभी नृत्य करते हैं कभी उच्च स्वरसे कीर्तन करते हैं और कभी पागल सा जमीन पर लोटते हैं। इस प्रकार भक्तोंके आचरणसे तथा शास्त्र दृष्टिसे इसका निर्णय हो चुका है कि भगवान और भागवत अभिन्न हैं। जब भगवान हमारे सामने स्वयं रूपसे अप्रकट रहते हैं उस समय वे ग्रन्थ-भागवत और भक्त भागवतके रूपमें प्रकट रहते हैं। अतएव ग्रन्थ-भागवत और भक्त भागवतको भगवान का प्रकाश-विग्रह समझकर आदर करना चाहिए तथा उनके उपदेशों पर चलना चाहिए। ऐसा करनेसे भगवत्प्राप्तिरूप चरम कल्याणकी प्राप्ति होती है।

श्रीभागवत-पत्रिकाका एक भी शब्द किसी बद्ध-जीवका मनः कल्पित शब्द नहीं है। उसका एक-एक शब्द 'शब्द-ब्रह्म' स्वरूप है। क्योंकि वे शब्द गुरु परम्पराके माध्यमसे प्राप्त है। शब्द-ब्रह्म भगवान् कृष्णसे लेकर उनके प्रिय भक्तजनों—ब्रह्मा, नारद, शंभु, कपिल, कुमार, मनु, प्रह्लाद, भीष्म, जनक, बलि शुकदेव और यमराज आदि महाजनोंके मुखारविन्द से गाया जाकर शिष्य-प्रशिष्यके माध्यमसे जगतमें विस्तारित होता है। श्रीभागवत-पत्रिका इसी शब्द-

ब्रह्मको श्रद्धालुजनोंके निकट पहुँचाती है। अतः भगवानसे अभिन्न श्रीभागवत-पत्रिका जिस श्रद्धालु पुरुषके गृहमें पधारती है--वह भगवानके पधारनेसे जैसा आनन्दित होता है, उसी प्रकार परमानन्दित होता है।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षको प्राप्त करनेवाले मनुष्य—जीवनका यथार्थ ध्येय क्या है—इसे ठीक-ठीक समझ नहीं पाते हैं। साधारण कर्मी सम्प्रदाय ऐसा समझता है कि धर्मके साथ कर्मका आचरण करनेसे ही धनकी प्राप्ति होती है तथा धनकी प्राप्ति होनेसे ही सब प्रकारकी कामनाओंकी पूर्त्ति हो सकती है। फिर कामनाओंकी पूर्त्ति हो जाने पर ही मोक्षकी साधना की जाती है। तथाकथित साधना पूरी होने पर वह लक्ष्मीपति भगवानसे एक होकर—भगवानमें लय प्राप्त होकर अनन्त अखण्ड आनन्दका अनुभव कर सकता है। वह अनन्त अखण्ड आनन्दको ब्रह्मानन्द कहता है। परन्तु वह यह नहीं जानता है कि अनन्त अखण्ड आनन्द—ब्रह्मानन्दको एक तुच्छ गड्ढेका जल समझकर जो भगवानके सेवानन्दरूप असीम समुद्रमें निमज्जित हो जाते हैं, उनके लिये धर्म-अर्थ-काम-मोक्षका आनन्द अतीव तुच्छ है। श्रीभागवत पत्रिका उसी नित्य सेवानन्दका सन्देश लेकर घर-घरमें उपस्थित होती है।

श्रीभागवत-पत्रिकाके आवरण-पृष्ठ पर 'मृदंग' अंकित रहता है। श्रीभागवत-पत्रिका स्वयं एक वृहद् मृदंग है, जिसकी सुमधुर गम्भीर ध्वनि दूर-दूर तक देश-विदेशमें विस्तारित होकर यह कहती है कि—'विषय-सुखको धिक है! धिक है!! अतः विषय-भोगको छोड़ कर भगवत्-सेवानन्दको प्राप्त करके मानव जन्मको सफल बनाओ!' भगवान् श्रीकृष्णने भी स्वयं गीतामें कहा है—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' भगवानकी सेवामें क्या आनन्द है—उसे तो सेवा करते-करते ही अनुभव किया जा सकता है।

स्मरण रहे कि भगवानका नाम, रूप, गुण, लीला, परिकर-वैशिष्ट्य—सब कुछ अप्राकृत है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक सम्प्रदाय इस तथ्यको अस्वीकार करता है। उनका कथन यह है कि जब भगवान ही नहीं हैं, तब उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिकी सत्ता भी बिलकुल काल्पनिक है—इसमें कहना ही क्या है। परन्तु इन तथाकथित वैज्ञानिकोंकी बात मान भी ली जाय तो हम विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैज्ञानिक लोग लाख चेष्टा करने पर भी जगत्का स्रष्टा और संचालक कौन है—इसका अनुसंधान अभी तक नहीं कर पाये हैं। इसलिये आधुनिक विज्ञान असम्पूर्ण है—इसमें संदेह ही क्या है? परन्तु हमारे वेदान्त आदि शास्त्रोंमें उस मूल स्रष्टा और संचालकका अनुसंधान देनेके लिये "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" और "जन्माद्यस्य यतो" आदि सूत्रोंकी सबसे पहले अवतारणा की गयी है। ब्रह्म ही वह तत्त्व है, जिससे सब कुछ पैदा होता है, जिसमें सब कुछ स्थित है और अंतमें जिसमें सब कुछ प्रवेश कर जाता है। उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि प्रकाशका मूल तत्त्व क्या है? इसका अनुसंधान करने पर जैसे विद्युत-प्रकाशका कारण बिजलीघर है; उसका कारण हाईड्रोलिक शक्ति है, उसका कारण जल है, जलका

कारण बादल है, बादलोंका कारण समुद्र और सूर्य है। परन्तु सूर्यका कारण क्या है—यह बात विज्ञान अभी तक नहीं बता सका है। परन्तु सूर्यका भी तो कुछ कारण अवश्य ही होगा। इस पर विज्ञान—"शायद हो सकता है, संभव है"—आदि अनिश्चित शब्दोंका प्रयोग करता है। जब सूर्यका ही कारण अनिश्चित रहा तो फिर सम्पूर्ण भौतिक जगतका मूल कारण क्या है—इस तथ्यका पता लगाना आधुनिक विज्ञानके लिये बड़ी दूरकी बात है। हमारे सामने रातमें जो असंख्य नक्षत्रादि चमकते हैं, वे एक-एक भूलोक हैं और उन ग्रह-नक्षत्रों पर हमारे जैसे ही, अथवा हमसे भी उच्चकोटिके बुद्धिमान प्राणियोंका निवास है—इसे अब विज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। अब वह यह भी स्वीकार करने लगा है कि उन लोकोंके निवासियोंकी आयु पृथ्वीलोकके निवासियोंसे बहुत अधिक होती है। अब स्पुटनिकों और राकेटोंसे उन-उन लोकोंमें पहुँचनेका भी विचार और प्रयत्न चल रहे हैं। इन वैज्ञानिकोंका ऐसा मत है कि यदि प्रकाशकी गतिसे भी चलें तो पृथ्वी-से उन ग्रहों तक आने-जानेमें कम-से-कम ४०,००० वर्ष लग जायेंगे। और मान लिया कि कोई व्यक्ति स्पुटनिक द्वारा सुदूर लोकमें जाकर लौट भी आवे, तो ४०,००० चालीस हजार वर्षमें पृथ्वीकी अवस्था क्या रहेगी—इसकी कोई क्या धारणा कर सकता है?

यह तो रही प्राकृत जगतकी बात। ऐसे-ऐसे अनन्त-करोड़ों प्राकृत विश्व ब्रह्माण्डोंके ऊपर अप्राकृत सनातन आकाशकी सीमा आरम्भ होती है। इसी अप्राकृत आकाशको परव्योम भी कहा गया है। श्रीगीतासे यह पता चलता है कि अप्राकृत सनातन आकाश स्थित लोकसमूह भगवानकी त्रिपाद विभूति है तथा भौतिक जगत—एकपाद विभूति है अर्थात् भौतिक सृष्टि एकांशमात्र है। वैज्ञानिक लोग जब इस एकांश सृष्टि-तत्त्वका ही अभी तक पार नहीं पा सके हैं, तो तथाकथित वैज्ञानिक जिनको मैं "आध्यत्मिक" कहता हूँ—वे पूरी सृष्टितत्त्वका क्या पार पायेंगे। आध्यत्मिकका तात्पर्य उन लोगोंसे है, जो प्राकृत इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओंको ही मानते हैं। परन्तु भगवानको अधोक्षज कहा गया है अर्थात् भगवान—प्राकृत इन्द्रियातीत ज्ञानगम्य हैं। अतएव तथाकथित भौतिक वैज्ञानिक जब इन्द्रियग्राह्य (हमारी आँखोंसे देखे जानेवाले) अनेक भूगोलोंका ही पता नहीं लगा पा रहे हैं, तब उनसे भी बहुत अधिक दूरी पर स्थित अप्राकृत सनातन आकाश—परव्योममें स्थित लोकोंका क्या पता लगा सकेंगे?

अस्तु, अप्राकृत वस्तुका अनुभव केवलमात्र वेदान्तादि शास्त्रको श्रुतिगोचर करनेसे ही संभव है। परन्तु इन शास्त्रोंको श्रुति-गोचर करनेके लिये एक विशेष योग्यता या अधिकारकी आवश्यकता है। साधारण जनता—स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धु उनको श्रुतिगोचर करनेके अयोग्य हैं। वे उनका श्रवण करके भी कुछ नहीं समझेंगे अथवा जगत् ध्वंशकारी कोई उलटा ही अर्थ लगावेंगे। पर उनका श्रवण किये बिना अप्राकृत विषयका ज्ञान भी नहीं हो सकता। श्रीभागवत उसी वेद-वेदान्त शास्त्रोंके सार तत्त्वको महाजनोंके पदांकानुसरण कर सबके लिये सुलभ बनाती है—सबको श्रवण कराती है। श्रीभागवत पत्रिकाके इस अप्राकृत संदेशका ध्यानपूर्वक श्रवण

करनेसे ही काम बन जायगा । यही अन्यान्य पत्रिकाओंसे श्रीभागवत-पत्रिकाकी विशेषता है।

कुछ श्रद्धालु ग्राहकोंने श्रीभागवत पत्रिकाकी भाषाकी कठिनताके प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया है। परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि श्रीभागवत पत्रिकाका विषय ही कुछ ऐसा है, जो केवल इन्द्रियज ज्ञानपर ही निर्भर रहनेवाले आध्यत्मिकोंके लिए कुछ कठिन अवश्य है । अतः वह कठिनता भाषाकी नहीं, विषयकी है । साधारण जनता भौतिक जगतके खान-पान और आचार-व्यवहारसे तो परिचित है, परन्तु अप्राकृत वस्तुमे बिलकुल अपरिचित है । और भौतिक विषयोंमें प्रवृत्त रहने पर जन्म-जन्मातरों तक भी अप्राकृत विषयमें प्रवेश करनेमें कठिनाई प्रतीत होती है। यह तो चित्त दर्पणकी एक प्रकारसे मलिनता है। इस मलिनताको दूर करनेके लिये एक ही उपाय है। वह यह कि पाठक हरिनामकी रट लगादें। "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥" इस भगवन्नामका कीर्तन करनेसे चित्तकी मलिनता सहज ही दूर हो जायगी और हृदयमें भागवती सिद्धान्तोंका स्वयं ही प्रकाश हो जायगा। श्रुतिमंत्र इस तथ्यका समर्थन करते हैं। जिनको भगवान्में और भगवानके प्रकाश श्रीगुरुदेव में अटूट श्रद्धा होती है, उनके हृदयमें शास्त्रका अर्थ स्वयं प्रकाशित हो पड़ता है। परन्तु इतना होते हुए भी हमारा सब समय ऐसा प्रयत्न होता है कि श्रीभागवत पत्रिकाकी भाषा सबके लिये बोधगम्य हो। यदि श्रद्धालु पाठक कठिन विषयके सम्बन्धमें प्रश्न करके समझना चाहते हैं तो कृपया वे हमसे पत्र-व्यवहार करें। हम लोग उनकी सेवा करनेके लिये सब समय प्रस्तुत हैं। हम कठिन विषयोंको जहाँ तक हो सकेगा सहज-सरल रूपमें समझानेका प्रयास करेंगे । परस्परके सहयोगसे ही भागवत-तत्त्वोंका ज्ञान होता है। गीतामें भी ऐसा ही निर्देश है—"बोधयन्तम् परस्परम्" इति ।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज

संघपति

श्रीश्रीरथयात्राका आह्वान

आदरणीय महोदय !

गौड़ीय वैष्णवाचार्यवर ॐविष्णुपाद श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरके तिरोभाव एवं श्रीश्रीजगन्नाथदेवकी रथ-यात्राके उपलक्ष्यमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ, चूचूड़ामें आगामी १७ आषाढ़से २७ आषाढ़ तक प्रवचन, कीर्त्तन, भाषण और महाप्रसाद वितरण आदि भक्तिके विविध अङ्गोंका विराट अनुष्ठान होगा। अतः आपसे प्रार्थना है कि उक्त अवसर पर उक्त स्थान पर अधिक-से-अधिक संख्यामें उपस्थित होकर हमें उत्साहित करेंगे तथा प्राण, अर्थ, बुद्धि और मनसे समितिके कार्योंके प्रति सहानुभूति प्रकट करेंगे ।

निवेदक—

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सभ्यवृन्द